देश में जनादेश का संदेश

प्रफुल्ल कोलख्यान

जनतांत्रिक व्यवस्था में जनादेश का बहुत महत्त्व होता है। जनादेश को समझने में हुई चूकों की भारी कीमत समाज को चुकानी पड़ती है। यह कीमत तब और बढ़ जाती है जब ऐसी चूकें जान-बूझकर की जाती हैं। कई राजनैतिक दल लोगों को भरमाने और अपने राजनैतिक 'मतलब' के लिए ऐसी चूकें जान-बूझकर करते हैं। मूल बात यह है कि जनतंत्र में प्राप्त जनादेश कभी भी निःशर्त नहीं होता होगा। जनादेश की शर्तें संविधान तय करता है। आजकल भारतीय जनतंत्र में जनादेश की कई व्याख्याएं संवैधानिक शर्तों की अवहेलना करती हुई लगती हैं। जनतंत्र के लिए- राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से भी- यह अशुभ लक्षण है।

कहने की जरूरत नहीं है कि जनतंत्र में चुनाव से प्राप्त जनादेश मूलतः अस्थायी ही होता है। इस अस्थायी जनादेश के कई प्रभाव चिरस्थायी होते हैं। गुजरात के जनादेश को पढ़ने में होने वाली चूक का खमियाजा देश को स्थायी रूप से भोगना पड़ सकता है। गुजरात के जनादेश का एक पाठ राजनैतिक है, तो दूसरा पाठ सांस्कृतिक और सामाजिक भी है। राजनैतिक दल अपने हित साधन के लिए इसका राजनैतिक पाठ तैयार कर रहे हैं। चिंता इस जनादेश के सांस्कृतिक और सामाजिक पाठ को लेकर है। यह चिंता इसलिए है कि सांस्कृतिक और सामाजिक ढांचों और अंतर्वस्तु पर गुजरात के जनादेश का स्थायी प्रभाव आशंकित है। ध्यान में रखना होगा कि गुजरात का यह चुनाव सामान्य परिस्थिति में नहीं हुआ है। यह असामान्य परिस्थिति धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद की उपलब्ध राजनैतिक अंतर्वस्तु के लगभग पूर्ण ध्रुवीकरण से उत्पन्न हुई है। विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संबंधों के अलावा धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद का एक पहलू सामाजिक विन्यास के गैर-सवर्ण और सवर्ण पक्ष से भी जुड़ता है। वस्तुतः भारतीय सामाजिकताओं में धर्मनिरपेक्षता और संप्रदायवाद का ऐतिहासिक द्वंद्व रहा है। धर्मनिरपेक्षता सिर्फ 'सेकुलरिज्म' का अनुवाद न होकर आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए हुए लंबे सामाजिक संघर्ष से प्राप्त एक भारतीय अनुभव भी है। इस अनुभव का विस्तार बाहरी उपनिवेश से मुक्ति और आधुनिक भारतीय राष्ट्र के गठन के लिए हुए जनसंघर्ष तक है।

राजसत्ता पर इस्लाम को मानने वालों के आरोहण के बाद इस द्वंद्व में नए आयाम और नई तीव्रता का जुड़ाव हुआ था। धर्मनिरपेक्षता की चुनौती के रूप में इस नए आयाम का संदर्भ हिंदू-मुसलमान के सामाजिक बरताव के लिए मानवीय आधार की तलाश से बनता है। धर्म पर आधारित भारतीय समाज की संरचना का बड़ा अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित है। हिंदू-मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए 'राम' और 'रहीम' के एक होने की बात पहले भी कभी सवर्ण चेतना का अंग नहीं बन पाई। आज भी हिंदू-मुसलमान के बीच कटुता बढ़ाने वालों में सवर्ण सक्रियता अलक्षित नहीं है। क्या यह महज संयोग है? या इसके पीछे सक्रिय सामाजिक-आर्थिक संरचना के यथार्थ की एकतानता भी है? गुजरात के इस चुनाव में धर्मनिरपेक्षता के लिए ऐतिहासिक रूप से एकतान संघर्षशील गैर-सवर्ण चेतना के बड़े भाग के संप्रदायवाद के पक्ष में चले जाने से यह ध्रुवीकरण बना। सवर्ण चेतना के राजनैतिक रथ में गैर-सवर्ण चेतना के राजनैतिक नेतृत्व के बार-बार जुत जाने से भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष संरचना को बचाने वाले प्रभावी और वास्तविक विकल्प के बनने का काम मुश्किल होता जा रहा है।

इन जटिलताओं को ठीक से समझे बिना गुजरात के जनादेश का सामाजिक पाठ तैयार नहीं हो सकता। ध्यान में यह भी रखना होगा कि गुजरात के जनादेश के बाद ही तेजी से 'हिंदू राष्ट्र' की राजनैतिक अवधारणा के तोड़ के रूप में दलित राष्ट्र की अवधारणा फिर उभर रही है। इतिहास की ओर नजर डालें तो द्विराष्ट्रीयता के जन्म के समय 'दलित राष्ट्र' जैसी अवधारणा भी प्रकट हुई थी। 'दलित राष्ट्र' की अवधारणा को स्थगित करवाने में उस समय सफलता मिली थी। यह सफलता इसलिए मिली थी कि धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के राजनैतिक आश्वासन के सामाजिक प्रतिफलन को परखे जाने तक भरोसा करने के काबिल मानने का अवसर बचा हुआ था। याद किया जाना चाहिए कि सांप्रदायिक मामले में अगस्त १९३२ के मैकडोनल्ड प्रस्ताव में दलितों के लिए अलग निर्वाचक मंडल के मुद्दे पर गांधी जी के आमरण अनशन के कारण एक पुणे समझौता हुआ था। इस समझौते के अनुसार हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचक मंडल बने रहे और दलितों के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था आज भी लागू है।

सामाजिक न्याय के आश्वासन को आरक्षण के प्रावधानों से ही सीमित कर देना सामाजिक न्याय की मानवीय आकांक्षा को भ्रमित करने वाला साबित हुआ है। इसका बहुत बुरा प्रभाव भारतीय सामाजिकताओं पर पड़ा है। बाद के दिनों में आरक्षण को सामाजिक अन्याय से आपातकालीन राहत न मानकर इसे वोट की निगाह से ही देखा गया। आरक्षण के प्रावधान सामाजिक अन्याय की क्षतिपूर्ति के लिए तो कुछ हद तक कारगर हो सकते थे, क्षति की प्रक्रिया को समाप्त करने का आधार नहीं बन सकते थे। सामाजिक अन्याय को संभव बनाने वाली सामाजिक प्रणाली को समाप्त करने के लिए अतिरिक्त प्रयास अपेक्षित थे। ये प्रयास नहीं किए गए। इसकी आशंका तब भी व्यक्त की गई थी। गांधीजी जी का प्रयास सामाजिक सुधार तक ही सीमित था। उस सामाजिक सुधार में आर्थिक मांगों के लिए कोई जगह नहीं थी। इसके साथ ही गांधी जी ने समग्र रूप में जाति-व्यवस्था का विरोध नहीं किया। १९२६ में प्रकाशित 'वर्णाश्रम धर्म' में व्यक्त उनके विचार थे, "अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जाएगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जाएगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जाएगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।' उनका विचार 'अस्पृश्यता' के खत्म होने पर टिका हुआ था, लेकिन इस अस्पृश्यता के खत्म होने के आर्थिक संदर्भों को वे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। आंबेडकर ने तब बहुत व्यथा के साथ साप्ताहिक 'हरिजन' के लिए संदेश देने से इस आधार पर मना कर दिया था कि 'जाति-व्यवस्था को नष्ट किए बना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है।' इस उद्धार का आशय सामाजिक और आर्थिक दोनों था।

असल में यह तथ्य तब भी अलक्षित नहीं था कि 'वर्णव्यवस्था' जन्म के आधार पर ही सही, श्रम-विभाजन का नहीं, श्रमिक-विभाजन का ही आधार बनाती है। बावजूद इसके राज्य के अंतःकरण में धर्मनिरपेक्षता के बरताव का आग्रह बने रहने तक सामाजिक न्याय के भी देर-सबेर हासिल होने की संभावना में कुछ जान बची हुई थी। अब नई आर्थिक परिस्थिति में 'हिंदू राष्ट्र' की अवधारणा के सक्रिय होने से सामाजिक न्याय पूर्णतः अरक्षित हो गया है क्योंकि सामाजिक अन्याय की बुनियाद तो इसी हिंदू व्यवस्था के सामाजिक आचरण में मौजूद रही है। आंबेडकर ने 'क्रांति और प्रतिक्रांति' में भारतीय सामाजिकताओं के संदर्भ में कहा था कि भारत में 'ब्राह्मण भारत', 'हिंदू भारत' अलग-अलग रहे हैं। इनसे जुड़ी तीन संस्कृतियों की त्रिधाराओं के प्रवाह का अस्तित्व रहा है। वर्णव्यवस्था के कारण भारत की सामाजिकता आत्मविभक्त रही है। ऐसे में दलित राष्ट्र की अवधारणा भी कम खतरनाक साबित नहीं होगी। हिंदू राष्ट्र की अवधारणा हो या उसकी प्रतिनिर्मिति 'दलित राष्ट्र' की अवधारणा, दोनों ही आत्मविभक्त भारतीय सामाजिकता की दरार को अधिक चौड़ा और तीखा बनाने वाली हैं। यह हिंदू भारत आत्म-विखंडन से लहूलुहान भारतीय सामाजिकता के एक बनने की दिशा में बढ़ने के रास्ते का सबसे बड़ा अवरोधक रहा है। यह अवरोध आज उठान मार रहा है। 'गुजरात' को अगर पूरे भारत में उठाने का प्रयास किया जाएगा तो उसके सामाजिक पाठ को इस ढंग से समझना जरूरी होगा।

इस चुनाव में 'गुजरात की अस्मिता' की बात बहुत जोरदार ढंग से उठाई गई। इस 'अस्मिता तत्त्व' की अनदेखी करने से हम भटक सकते हैं। इस अस्मिता तत्त्व में घनघोर प्रादेशिकता स्वतः समाहित है क्योंकि इस 'गुजराती अस्मिता' को 'भारतीय अस्मिता' से अलग और भिन्न पहचान पर आधारित होने की आकांक्षा से परहेज नहीं है। ध्यान में रखना चाहिए कि किस तरह भारतीय जनता पार्टी ने नरेंद्र मोदी को बहुत ताकतवर और अपने दल की केंद्रीय नीति से टकराते हुए चलने वाली ही नहीं, भारतीय संघ की संवैधानिक संस्थाओं और बुनियादी मान्यताओं से भी निरंतर टकराने वाली 'गुजराती अस्मिता' के प्रतीक नेता के रूप में सफलतापूर्वक उभारा। केशु भाई पटेल के सामने विनीत होने और हिरेन पांड्या के मामले में अपने दल के केंद्रीय हस्तक्षेप को दृढ़तापूर्वक नकारने की प्रतीति कराकर नरेंद्र मोदी को 'गुजराती अस्मिता' का प्रतीक बनाने में भारतीय जनता पार्टी कामयाब रही। ऊपर से सांप्रदायिक दिखने वाला यह ध्रुवीकरण अपने केंद्रीय बनाव में प्रदेशवाद के विषाणु से भी ग्रस्त रहा है। इस पर विचार किया जाना चाहिए कि संप्रदायवादी ध्रुवीकरण के लिए सवर्ण चेतना और प्रदेशवादी ध्रुवीकरण के लिए गैर-सवर्ण चेतना के संगठन का इस ध्रुवीकरण में कितना योगदान रहा है। प्रसंगवश, शिव सेना के राजनैतिक उभार में 'हिंदुत्व' और 'मराठी अस्मिता' के मिश्रण को सक्रिय बनाने की राजनैतिक प्रक्रिया को भी याद किया जा सकता है। कांग्रेस इस प्रदेशवाद के मर्म को ठीक से समझ ही नहीं पाई। कांग्रेस अपने सांगठनिक ढांचे के अतिकेंद्रित होने के कारण इसे समझकर भी कुछ कर पाने की स्थिति में शायद ही हो पाती।

इस ध्रुवीकरण के संकेत साफ हैं। संस्कृति की कुत्सित समझ से उत्पन्न 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के निहित आशय के आधार पर किए जाने वाले कार्यों से भारतीय सामाजिकताओं में नागरिकों के बीच का सामाजिक संतुलन और भारतीय राज्यों में एकात्मकता और संघात्मकता का राजनैतिक संतुलन बिगड़ रहा है। संघात्मकता हमारे राजनैतिक गठन का अनिवार्य अंग है। दुखद यह है कि ऊपर से संघात्मकता की ओर बढ़ती दिखने वाली यह गत्यात्मकता भीतर से संघहीनता की ओर ही तेजी से बढ़ती है। जैसे धर्म के नाम पर संप्रदायवाद से उत्पन्न धर्महीनता फैलती है, वैसे ही संघात्मकता के नाम पर प्रदेशवाद से उत्पन्न संघहीनता फैल सकती है। राजनैतिक गठन के संघहीन होते जाने से बने वातावरण में सामाजिक संघात और अधिक जानलेवा साबित होगा। एकात्मकता और संघात्मकता को संवादी बनाए रखने में बहुत हद तक कामयाब रहे दिनों में कांग्रेस राजनैतिक प्रासंगिकता के शिखर पर रही है। लेकिन कांग्रेस का अतिकेंद्रित वर्तमान सांगठनिक ढांचा भारतीय राज्य की बुनियाद में संघहीनता के प्रदूषण के प्रवेश को रोक पाने में पूरी तरह से सक्षम नहीं दिखता। अप्रासंगिकता के गर्त में कांग्रेस के गिर जाने से उपजी राजनैतिक शून्यता को भर पाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे वैकल्पिक सांगठनिक ढांचे की जरूरत है जो अपने आंतरिक गठन में एकात्मक भी हो और संघात्मक भी हो।

जो गुजरात में प्रदेशवाद के सहारे हुआ वह पूरे भारत में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के सहारे दुहराया जा सकता है। इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बीज 'संप्रदायवाद' और 'प्रदेशवाद' के मिश्रण से तैयार रासायनिक खाद से अंखुआते हैं। इस चुनाव के प्रचार के दौरान प्रदेशवाद को निर्मित करने में 'राष्ट्रवाद' की भी कम मदद नहीं ली गई। अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में उग्र और अंध राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विलगावकारी प्रदेशवाद के राजनैतिक चरित के रूप में विकसित करने के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के खतरनाक इरादे को ठीक से पढ़ना जरूरी है। यह सच है कि पूरा भारत गुजरात नहीं है, लेकिन यह ध्यान में रखना ही होगा कि गुजरात भी भारत में ही है।